## विचार बिन्दु

मन की प्रसन्नता से समस्त मानसिक और शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं। –रामदास

# अंधविश्वास, पाखंड का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं, इन्हें फैलाना संविधान के अनुच्छेद 51 के विपरीत है, इनसे किसी का भला नहीं होता।

यद्यपि विज्ञान की प्रगति होने के कारण अब भगवानों के अवतारों के रूप में आने की गति कम हो गई, चमत्कार भी कम होने लगे फिर भी दुनिया के हर देश में बड़े अजीब-अजीब अंधविश्वास हैं। अंधविश्वासों से डर और उम्मीद हर देश में है।

आगे बढ़ने से पहले एक प्रश्न -- क्या आपने कभी देखा या सुना कि किसी राजनीतिक दल, तथाकथित सांस्कृतिक, धार्मिक अथवा सामाजिक संगठन ने पाखंडी, अंधविश्वासों के खिलाफ कोई आंदोलन किया हो या सशक्त आवाज उठाई हो? मुझे तो याद नहीं पड़ता आप जानो तो बताना।

अंधविश्वासों, पाखंडों के विरुद्ध आवाज उठाने लड़ाई लड़ने के कारण, पिछले बीसेक वर्षों में कई नामचीन लोगों को बंदूक की गोलियों का शिकार बनाकर मौत के घाट उतारा गया है। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र के सबसे प्रमुख अंधविश्वास विरोधी कार्यकर्ता थे डॉ. नरेंद्र दाभोलकर, पेशे से डॉक्टर थे। 1989 में महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति की स्थापना की। ढोंगी बाबाओं तथा काला जादू के खिलाफ कानून बनाने के लिए लंबा संघर्ष करने के कारण, 20 अगस्त 2013 को पुणे में दो अज्ञात हमलावरों ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी। दाभोलकर की हत्या के महज चार दिन बाद ही महाराष्ट्र सरकार ने अंधविश्वास और काला जादू विरोधी अध्यादेश को मंजूरी दी।

क्या यह काम पहले नहीं किया जा सकता था? महाराष्ट्र ऐसा कानून लागू करने वाला देश का पहला राज्य बन गया।

कम्युनिस्ट नेता, विचारक, लेखक गोविंद पानसरे सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के खिलाफ मुखर थे। उन्होंने अंधविश्वास विरोधी आंदोलनों का समर्थन किया। कई सामाजिक सुधार अभियानों का नेतृत्व किया। 16 फरवरी 2015 को महाराष्ट्र के कोल्हापुर में उन पर गोलियां चलाई गईं, जिसके बाद 20 फरवरी 2015 को उनका निधन हो गया।

कन्नड़ भाषा के विद्वान, हम्पी यूनिवर्सिटी के उपकुलपति रहे प्रो कुलबर्गी ने मूर्ति पूजा, धार्मिक रूढ़िवाद और अंधविश्वासों की खुलकर आलोचना की थी। 30 अगस्त 2015 को कर्नाटक के धारवाड़ में उनके आवास पर गोली मारकर उनकी हत्या कर दी गई। लंकेश पत्रिके की संपादक गौरी लंकेश जो एक निर्भीक पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ता थीं ने कट्टरपंथ, सांप्रदायिकता और अंधविश्वासों पर तीखे प्रहार करती थीं। 5 सितंबर 2017 को बेंगलुरु में उनके घर के बाहर हमलावरों ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी।

विचारणीय बात यह है कि ऐसे नामचीन लोगों की हत्या करना किसी गली के सिरफिरे व्यक्ति की सनक का परिणाम है या फिर कोई छुपी हुई संगठित शक्ति या संगठन इनके पीछे रहे है?

ऐसा भी नहीं कि अंधविश्वास पाखंड केवल भारत में ही है। दुनिया के प्रत्येक देश में अलग-अलग प्रकार के अंधविश्वास-पाखंड है।

भारत के कुछ अंधविश्वास::-भारत में बिल्ली का रास्ता काटना, शाम को झाड़ू लगाना, मुंह से नाखून काटना अशुभ माना जाता है। नींबू-मिर्च से नजर उतारना एक सामान्य अंधविश्वास है। कौवे का घर पर कांव-कांव करना - मेहमान आने का संकेत माना जाता है।

व्यस्त रास्तों पर सुबह के समय, हम सब ने, रात्रि के किसी शुभ मूहर्त में (जैसा यह टोटका बताने वाला विद्वान! बताता है) रखे मिट्टी के बर्तन उस पर कुछ चित्रकारी, उसके पास रखी विविध प्रकार की भोजन सामग्री जरूर देखी होगी। यह अंधविश्वास का नमूना है। स्याना ओझा आपको टोटका करने का समय बताता है, किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किस प्रकार की, कितनी भोजन सामग्री रखनी है यह भी वह स्याना ही बताता है। यदि उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती तो बताने वाला आप से पूछताछ कर, आप द्वारा अपनाई विधि में कोई न कोई कमी बता देगा जिसके कारण उद्देश्य प्राप्त नहीं हुआ होगा अर्थात यदि कुछ ठीक हो जाए तो सयाने की वाह वाह और उद्देश्य प्राप्त न होने पर दोष भी आपका ही।

**ऐसा भी नहीं कि अंधविश्वास पाखंड केवल भारत में ही है। दुनिया के प्रत्येक देश में अलग-अलग प्रकार के अंधविश्वास-पाखंड है। कुछ ज्योतिषियों द्वारा भी दुख-दर्द निवारण के लिए हास्यास्पद टोटके टीवी पर बैठकर या अपने कार्यालयों में बैठकर सुझाए जाते है।**

कुछ ज्योतिषियों द्वारा भी दुख दर्द निवारण के लिए हास्यास्पद टोटके टीवी पर बैठकर या अपने कार्यालयों में बैठकर सुझाए जाते है।

आपने अक्सर मंदिरों में आटे के दीये जलते हुए देखे होंगे लेकिन ऐसा क्यों, किन अंधविश्वासों के कारण किया जाता है? अंधविश्वास है कि कर्ज से मुक्ति, शीघ्र विवाह, नौकरी, बीमारी, संतान प्राप्ति, खुद का घर, गृह कलह, पति-पत्नी में विवाद, जमीन जायदाद, कोर्ट कचहरी में विजय, झूठे मुकदमे तथा घोर आर्थिक संकट के निवारण हेतु आटे के दीप संकल्प के अनुसार जलाए जाते हैं।

हल्दी मिले के आटे का दीपक जलाना ओर अधिक शुभ माना जाता है। इतना ही नहीं, सप्ताह के अलग अलग दिनों के लिए अलग अलग प्रकार से आटे के दीप जलाने का भी अंधविश्वास है। जैसे शुक्रवार को आटे में घी हल्दी मिलाकर गूंथने से शुक्र ग्रह मजबूत होता है।इस से प्रेम, सौंदर्य और धन की प्राप्ति होती हैं। पीपल के नीचे 40 दिन तक, दीपक में सरसों डालकर जलाने से आकस्मिक धन लाभ होता है। व्यापार और नौकरी में तरक्की के लिए सरसों तेल को एक कांच की शीशी में डालकर उसे नदी में प्रवाहित करें। रविवार को आटे में गुड़, घी मिलाकर गूंथना से कुंडली में कमजोर सूर्य मजबूत होता है। इस से स्वास्थ्य, धन, व्यापार और नौकरी में चमत्कारी लाभ होता है।

शनि, राहु, केतु ग्रह को मजबूत और शांत करने के लिए शनिवार को आटा गूंथते समय पिसे हुए उर्द का आटा, चंदन का पाउडर, अश्वगंधा का पाउडर और सरसों का तेल मिलाने से जीवन में चल रही समस्याओं से छुटकारा मिलेगा। शनिवार के दिन हल्दी, कोई पीली वस्तु का दान करना नुकसानदेह हो सकता है। शनिवार के दिन सौभाग्य के लिए कौवों या आवारा जानवरों को खाना खिलाएँ। पौराणिक कथाओं में कौओं को शनि का वाहन माना जाता है। भंडारे में नमक का दान करना एक शुभ कार्य माना जाता है, जिससे पुण्य प्राप्ति होती है और आर्थिक समस्याओं का नाश होता है।

अंधविश्वास पाखंड बहुत सी बार कुछ महिलाओं को डायन बता देता है। बिहार, झारखंड, राजस्थान में आज भी विधवा, अकेली औरत को डायन बताकर पीटा, जलाया, निर्वस्त्र किया जाता है।

अगर इन अंधविश्वास को मानकर हर व्यक्ति यह करने लग जाए तो हर व्यक्ति के दुख दर्द कभी के मिट गए होते। देश कभी का दुनिया का सबसे खुशहाल मुल्क बन जाता।

डर दिखाकर पूजा, चढ़ावा, विशेष प्रकार की अंगूठी खरीदने की सलाह देना, भभूत के नाम पर गरीब की जीवन की कमाई हड़पना आम है। जादू टोना,भूतप्रेत के चक्कर में इलाज में देरी से पेचीदगियां आ जाती है। लोगों को कर्म की जगह भाग्य, कुंडली, शनि के भरोसे बैठाने से समाज कामजोर बनता है। पाखंड अंधविश्वास फैलाने वाले जाति को भगवान का बनाया बता कर ऊंच-नीच, छुआछूत को धर्म से जोड़कर, बराबरी के संविधानी हक को खत्म करते है। बहू पर भूत है, बेटी पर दोष है कहकर घर में शक और लड़ाई पैदा करता है। दोष काटने के लिए अकेले में पूजा करनी पड़ेगी कहकर महिलाओं और बच्चियों का शोषण। कुछ पाखंडी भभूत, प्रसाद में नशा मिलाकर लोगों को आदी बनाते है।

पाखंडी संविधान के अनुच्छेद 51ए(एच) के खिलाफ जाकर समाज को कहता है - सवाल मत पूछो, बस मानो। डरो और मानो जबकि संविधान कहता है - सोचो, पूछो, वैज्ञानिक, मानवतावादी बनो। भारत में अंधविश्वास तो एक धंधा बन चुका है। डर का धंधा। पहले डर दिखाओ जैसे तेरे पर देवी/देवता की छाया है, पितर नाराज है। भोपा, उपाय बताएगा जैसे 5000 रूपये का खर्चा आएगा? बकरा कटेगा, ताबीज ले लो, गंगा नहाओ। अगर इन बातों से डर गए तो जेब खाली।

कुछ अन्य देशों के अंधविश्वास::--

जापान में माना जाता है कि रात को सीटी बजाने से चोर आते हैं। कंघी को रात में इस्तेमाल करने से भूत आते हैं। नंबर 4 अशुभ है क्योंकि इसका उच्चारण मौत जैसा है। चीन में नंबर 8 बहुत शुभ, नंबर 4 अशुभ माने जाते है।

झाड़ू को गलत जगह रखना गरीबी लाता है, ऐसा माना जाता है। अमेरिका / यूरोप में नंबर 13 अशुभ माना जाता है जिसके कारण कई बिल्डिंगस में 13वीं मंजिल ही नहीं होती। काली बिल्ली, सीढ़ी के नीचे से निकलना अशुभ माना जाता है। बुरी नजर से बचने के लिए लकड़ी को छुआ जाता है। शीशा टूटना 7 साल की बदकिस्मती से जुड़ा है रूस में खाली बाल्टी लेकर किसी को देखना अशुभ माना जाता है। घर में सीटी बजाने से पैसे चले जाते हैं और नमक गिरना झगड़े के संकेत से जोड़ा जाता है। तुर्क / मध्य पूर्व में माना जाता है कि नीली आंख बुरी नजर से बचाती है। जूते उल्टे पड़े हों तो अशुभ है। लैटिन अमेरिका - ब्राजील, मेक्सिको में मान्यता है कि पर्स जमीन पर रखने से पैसा चला जाता है। रात को झाड़ू पैर से छूने से शादी नहीं होती। इटली में बिस्तर पर टोपी रखना अशुभ, जैतून का तेल गिरना बुरा शगुन माना जाता है। यह सारी सूचनाएं सार्वजनिक क्षेत्र में उपलब्ध है।

मतलब - डर और उम्मीद हर जगह एक जैसी है, बस कहानियाँ अलग-अलग हैं।

अंधविश्वास को भगाना है तो सवाल पूछो। "किसने कहा? क्या किसी प्रमाणिक किताब में है यह बात? इसका कोई सबूत है या सिर्फ कहानी है? क्या इस से अंधविश्वास फैलाने वाले को वित्तीय लाभ है।"

पाखंड कहता है - डरो, मानो, दान दक्षिणा दो। संविधान कहता है - वैज्ञानिक तरीके से सोचो, पूछो, मानवतावादी बनो। अंधविश्वास फैलाने वालों को जनता के सामने उजागर करो।

**-अतिथि सम्पादक,**
**महावीर सिंह, पूर्व आई ए एस**

# जयपुर की मूर्तिकला : पत्थरों में प्राण फूंकती छैनी-हथौड़ी की शिल्प साधना

## जैपुर-तीन सदियों का गुलाबी सफ़र....



डॉ. गोरधन लाल शर्मा

सिलावटों के मोहल्ले से दुनिया तक पहुंची गुलाबी नगरी की शिल्पकला, पांच हजार से अधिक कारीगरों के हुनर में आज भी जीवंत है सदियों पुरानी परंपरा

किसी मंदिर में स्थापित देव प्रतिमा के सामने श्रद्धालु शीश नवाते हैं तो किसी महापुरुष की प्रतिमा पर माल्यार्पण कर उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। लेकिन उस कलाकार की साधना को कितनी बार याद किया जाता है, जिसने एक निर्जीव पत्थर को ऐसा सजीव स्वरूप दिया कि वह सदियों तक आस्था, श्रद्धा और प्रेरणा का केंद्र बन गया। दरअसल, पत्थर में देवत्व और भावों की अभिव्यक्ति स्वयं नहीं उभरती। उसके पीछे शिल्पकार की कल्पना, साधना, धैर्य और छैनी-हथौड़ी की अनगिनत चोटों का योगदान होता है। जयपुर की मूर्तिकला इसी अद्भुत सृजनशीलता की विरासत है, जहां पत्थर कलाकार के स्पर्श से अभिव्यक्ति पाने लगता है।

जयपुर के चांदपोल बाजार से सटे मूर्ति मोहल्ले की गलियों में प्रवेश करते ही इस कला की जीवंत दुनिया से साक्षात्कार होता है। भिंडों का रास्ता, खजाने वालों का रास्ता और खेजड़ों का रास्ता आज भी छैनी-हथौड़ी की खनक से गूंजते हैं। कभी सिलावटों के मोहल्ले के नाम से पहचाने जाने वाले इस क्षेत्र में घर-घर मूर्तिकला की परंपरा सांस लेती है। यहां करीब पांच हजार कलाकार, कारीगर और श्रमिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इस व्यवसाय से जुड़े हैं। मूर्तिकार, पत्थर की घिसाई-पॉलिश करने वाले कारीगर, रंगकारी करने वाले चितेरे, पैकिंग और परिवहन से जुड़े श्रमिकों तक एक पूरी अर्थव्यवस्था इस कला के इर्द-गिर्द विकसित हुई है। यह मोहल्ला महज कारोबार का केंद्र नहीं, बल्कि पीढ़ियों से हस्तांतरित होते आ रहे हुनर की खुली कार्यशाला है।

**पत्थर का चयन, शिल्पकार की कल्पना और आकार लेती प्रतिमा**

जयपुर की मूर्तिकला की खासियत इसकी विविधता और निर्माण की पारंपरिक तकनीक में छिपी है। प्रतिमा गढ़ने की शुरुआत पत्थर के चयन से होती है। मकराना का सफेद संगमरमर अपनी गुणवत्ता और चमक के लिए विशेष स्थान रखता है। भैंसलाना का काला पत्थर और जैसलमेर का पीला पत्थर भी मूर्तिकारों की पसंद में शामिल हैं। विशेष रूप से जैन प्रतिमाओं के निर्माण में पीले पत्थर का उपयोग किया जाता रहा है। हिण्डौन और दौसा क्षेत्र का घीया पत्थर प्रारंभिक प्रतिरूप बनाने के काम आता है, जबकि पहले झिरी और रायले के पत्थर का भी मूर्तियों तथा भवन निर्माण में उपयोग होता था।

मूर्ति निर्माण केवल छैनी-हथौड़ी चलाने तक सीमित नहीं है। सबसे पहले मिट्टी, पत्थर अथवा प्लास्टर से प्रतिमा का प्रारंभिक मॉडल तैयार किया जाता है। डिजाइन स्वीकृत होने के बाद उसी के अनुरूप चुने हुए पत्थर को काटकर आकार दिया जाता है। फिर शिल्पकार उस पर रेखांकन कर बारीकी से आकृति उभारता है। इस पूरी प्रक्रिया में अनुभव और एकाग्रता की बड़ी परीक्षा होती है, क्योंकि पत्थर से एक बार निकला हुआ हिस्सा दोबारा नहीं जोड़ा जा सकता। छोटी-सी चूक महीनों की मेहनत पर पानी फेर सकती है।

तराशी गई प्रतिमा इसके बाद पॉलिश के लिए पहुंचती है। अनुभवी कारीगर घिसाई करके उसकी सतह को चिकना और चमकदार बनाते हैं। फिर चितेरे रंगों और अलंकरण के जरिए चेहरे के भाव, वस्त्र, मुकुट और आभूषणों को आकर्षक स्वरूप देते हैं। इस तरह खदान से निकला पत्थर कई कुशल हाथों से गुजरते हुए कलाकृति में बदल जाता है।

**मूर्तियों की विविधता और पारंपरिक शिल्प शब्दावली**

मूर्ति मोहल्ले में प्रतिमाओं की दुनिया भी कम रोचक नहीं है। यहां छोटे आकार की प्रतिमाओं से लेकर विशाल और आदमकद मूर्तियों तक का निर्माण होता है। चुटकुले, पांच खण्डे, चपटे, ग्याराना और चौदाना जैसे पारंपरिक नाम अलग-अलग आकार और माप की पहचान कराते हैं। धार्मिक प्रतिमाओं में हनुमान, महादेव, कार्तिकेय, राम जोड़ी, कृष्ण जोड़ी, गणेश, नंदी, पिण्डी और जलहरी प्रमुख हैं। आवक्ष प्रतिमाओं के साथ पूर्ण आकार की मूर्तियां भी तैयार की जाती हैं। कुछ प्रतिमाओं में नाजुक और बाहर निकले अंगों को सुरक्षित रखने के लिए पीछे पत्थर का सहारा छोड़ा जाता है, जिन्हें बादरेदार मूर्तियां कहा जाता है। इनकी कीमत पत्थर की गुणवत्ता, आकार, डिजाइन की जटिलता और शिल्पकार के कौशल के आधार पर तय होती है। एक ही तरह के पत्थर से बनी दो प्रतिमाओं के मूल्य में भी बड़ा अंतर हो सकता है, क्योंकि कलाकृति का वास्तविक मूल्य उसे गढ़ने वाले कलाकार की कल्पना और दक्षता से निर्धारित होता है।

**आमेर की विरासत से संस्थागत पहचान तक**

जयपुर की मूर्तिकला परंपरा की जड़ें आमेर के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक वैभव से जुड़ी मानी जाती हैं। जयपुर की स्थापना के बाद इस कला को नया परिवेश और विस्तार मिला। महाराजा सवाई रामसिंह द्वितीय (1835-1880) के शासनकाल में कला एवं शिल्प को संस्थागत प्रोत्साहन मिला। वर्ष 1866 में महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स की स्थापना की गई, जिसे प्रारंभ में मदरसे हुनरी कहा जाता था। आगे चलकर यही संस्थान राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट्स के नाम से पहचाना गया। इस पहल ने पारंपरिक शिल्प को प्रशिक्षण और नई तकनीकों से जोड़ने का अवसर दिया।

जयपुर की मूर्तिकला को प्रतिष्ठा दिलाने वाले कलाकारों में उस्ताद मालीराम का नाम विशेष आदर से लिया जाता है। उनकी कला-साधना इतनी गहरी थी कि वे सुबह चार बजे से दोपहर बारह बजे तक लगातार काम करते थे। मीठे तेल के दीये की रोशनी में भी उनका सृजन जारी रहता था। उनके लिए मूर्तिकला महज पेशा नहीं, जीवन का ध्येय थी। बाद के दौर में गोपीचंद मिश्रा, नारायणलाल जैमिनी, लल्लू नारायण शर्मा और सोहनलाल अत्री जैसे कलाकारों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। मुकुटबिहारी नाठा, कमलप्रसाद मिश्र, पुरुषोत्तम शर्मा, देवेन्द्र मिश्र, जवाहर मिश्र और छगनलाल जैसे कलाकारों ने पारंपरिक शिल्प के साथ नए प्रयोगों को भी स्थान दिया। श्रीमती उषारानी हूजा ने आधुनिक और विदेशी कला प्रभावों के समन्वय से मूर्तिकला को नई अभिव्यक्ति दी। जयपुर पुलिस मेमोरियल का शहीद स्मारक उनकी कलात्मक दृष्टि का उल्लेखनीय उदाहरण है। वहीं महेन्द्र कुमार दास, जिन्हें दास बाबू के नाम से जाना जाता है, ने स्टैच्यू सर्किल पर स्थापित सवाई जयसिंह की लगभग बारह फुट ऊंची प्रतिमा का निर्माण किया। स्वर्गीय टी.पी. मित्रा ने गुरु के रूप में अनेक कलाकारों को प्रशिक्षित किया। आनन्दीलाल वर्मा, अय्याज मुहम्मद और सत्यनारायण जैसे शिल्पकारों ने यथार्थवादी आवक्ष प्रतिमाओं को नई पहचान दी।

**चितेरों की कलम से निखरता है सौंदर्य**

मूर्ति निर्माण की यात्रा में चितेरों की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। शिल्पकार पत्थर को आकार देता है तो चितेरा उसमें रंगों के माध्यम से भाव और आकर्षण भरता है। चेहरे की दिव्यता, वस्त्रों की बारीकियां, मुकुट की सजावट और आभूषणों की चमक उनकी दक्षता से उभरती है। उनकी रंगकारी में राजस्थानी लघुचित्र शैली की बारीकी और सौंदर्यबोध की झलक दिखाई देती है।

इस क्षेत्र में स्वर्गीय बाबूलाल का योगदान उल्लेखनीय रहा। उन्होंने चांदी के वर्क को विशेष तकनीक से सोने जैसा रूप देने की कला विकसित की। मुकुट और आभूषणों पर चांदी का वर्क लगाकर उस पर पीले रंग की परत चढ़ाई जाती थी, जिससे वह सोने जैसी चमक देने लगता था। हरीजी, दामोदरजी, मास्टर जगन्नाथ, बद्रीजी, मोहन शर्मा, वीरेन्द्र शर्मा, महेन्द्र शर्मा लखपति, कैलाश शर्मा और दामोदर शर्मा जैसे चितेरों ने भी इस परंपरा को समृद्ध किया।

**मोहल्ले से अंतरराष्ट्रीय पहचान तक**

समय के साथ जयपुर की मूर्तिकला स्थानीय गलियों से निकलकर देश-विदेश के बाजारों तक पहुंची है। शहर के कई प्रतिष्ठानों ने इस विरासत को व्यावसायिक विस्तार दिया है। नाठा मूर्ति म्यूजियम का नाम इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसे करीब सवा सौ वर्ष पुराना प्रतिष्ठान बताया जाता है। मकराना और भैंसलाना में इसकी खदानें भी रही हैं। जगदीश पांडे और मनोहर पांडे के शो-रूम भी अपनी कलात्मक प्रतिमाओं और प्रस्तुति के लिए पहचाने जाते हैं।

आज इस व्यवसाय से हजारों परिवारों की आजीविका जुड़ी है। पत्थर खदानों से निकालने वाले श्रमिकों से लेकर मूर्तिकार, पॉलिश करने वाले कारीगर, चितेरे, व्यापारी और परिवहनकर्मी तक इसकी पूरी शृंखला का हिस्सा हैं। हालांकि इस आकर्षक कला संसार के पीछे कठिन श्रम, सीमित संसाधनों और आर्थिक चुनौतियों की कहानी भी छिपी है।

बदलते समय के साथ जयपुर की मूर्तिकला में भी उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। चेहरे की बनावट, शारीरिक संरचना, वस्त्रों और आभूषणों की बारीकियों में निरंतर परिष्कार हुआ है। आधुनिक शिल्प तकनीकों और पाश्चात्य कला प्रभावों ने कलाकारों को नई अभिव्यक्तियां दी हैं, लेकिन भारतीय संस्कृति और पारंपरिक सौंदर्यबोध इसकी मूल पहचान बने हुए हैं। यही कारण है कि जयपुर में तैयार प्रतिमाएं देश के मंदिरों, धार्मिक स्थलों, संस्थानों और निजी संग्रहों तक पहुंच रही हैं।

**पत्थरों में धड़कती जयपुर की सांस्कृतिक आत्मा**

खजुराहो, एलोरा और बाडोली जैसे ऐतिहासिक शिल्प केंद्रों ने भारतीय मूर्तिकला को विश्व स्तर पर प्रतिष्ठा दिलाई है। जयपुर के शिल्पकार उसी समृद्ध परंपरा की आधुनिक कड़ी बनकर अपनी कला से सांस्कृतिक विरासत को आगे बढ़ा रहे हैं। उनकी रचनाओं में केवल पत्थर की बनावट नहीं, बल्कि आस्था, कल्पना, सौंदर्य और पीढ़ियों के अनुभव समाहित हैं। जयपुर के 299वें स्थापना दिवस पर मूर्तिकला की इस विरासत को याद करना उन अनगिनत कलाकारों और कारीगरों के योगदान को सम्मान देना है, जिनके नाम भले ही इतिहास के पन्नों में दर्ज न हों, लेकिन जिनकी छैनी-हथौड़ी की साधना ने शहर को विशिष्ट पहचान दी है। जब किसी मंदिर में श्रद्धालु देव प्रतिमा के सामने सिर झुकाता है, तब अनजाने में उसकी श्रद्धा उस शिल्पकार की तपस्या तक भी पहुंचती है, जिसने पत्थर को ऐसा स्वरूप दिया।

जयपुर की मूर्तिकला का वास्तविक वैभव है-यहां पत्थरों को सिर्फ तराशा नहीं जाता, बल्कि उनमें भारतीय संस्कृति, आस्था और कलाकार की आत्मा को आकार दिया जाता है।

**-डॉ. गोरधन लाल शर्मा,**
**समाजशास्त्री एवं राजस्थान प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी**

# राजस्थानी भाषा की अनदेखी क्यों कर रहा है शासन?

## विश्वविद्यालयों में राजस्थानी के स्थायी विभाग स्थापित करने की मांग पर सरकार की चुप्पी समझ से परे



डॉ. राजेन्द्र जोशी

लोकतंत्र में प्रत्येक नागरिक को अपनी बात कहने और अपनी मांग सरकार तक पहुंचाने का अधिकार है। शासन का दायित्व है कि वह लोक की आवाज सुने, जनभावनाओं को समझे और जनहित से जुड़े मुद्दों पर सकारात्मक निर्णय लेने का प्रयास करे। लेकिन जब जनता की कोई मांग वर्षों तक दोहराई जाती रहे और सरकार की ओर से कोई ठोस पहल दिखाई न दे तो यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या शासन ने सुनना बंद कर दिया है या उसके कानों तक लोक की आवाज पहुंच ही नहीं रही है?

राजस्थान में राजस्थानी भाषा को लेकर यही स्थिति दिखाई दे रही है। राजस्थानी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मांग लंबे समय से लंबित है। प्रदेश की दूसरी राजभाषा बनाने की मांग पर भी सरकार की ओर से कोई ठोस पहल दिखाई नहीं देती। यह केवल भाषा को मान्यता देने का सवाल नहीं है, बल्कि प्रदेश की सांस्कृतिक पहचान और भावी पीढ़ियों के भाषाई अधिकारों से जुड़ा विषय है।

भाषा किसी भी समाज की आत्मा होती है। भाषा केवल संवाद का माध्यम नहीं है, बल्कि वह अपने साथ इतिहास, परंपराएं, लोकविश्वास, जीवन दर्शन, लोकगीत, लोककथाएं और सामाजिक अनुभवों की पूरी विरासत लेकर चलती है। किसी समाज की संस्कृति को समझना हो तो उसकी भाषा को समझना आवश्यक है। इसलिए किसी भाषा का संरक्षण और विकास केवल साहित्यकारों या भाषाविदों की जिम्मेदारी नहीं है, यह सरकार और समाज दोनों का दायित्व है।

इसके बावजूद प्रदेश में राजस्थानी को वह शैक्षणिक और संस्थागत स्थान नहीं मिल पाया है जिसकी वह वास्तविक रूप से अधिकारी है।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि सरकार फिलहाल आठवीं अनुसूची में शामिल करने अथवा राजभाषा बनाने के विषय में निर्णय नहीं कर पा रही है तो क्या राजस्थानी भाषा के अध्ययन-अध्यापन और शोध के लिए भी कोई बाधा है? क्या विश्वविद्यालयों में राजस्थानी भाषा के स्थायी विभाग स्थापित करने के लिए भी किसी संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयों में विभाग स्थापित करना राज्य सरकार और संबंधित विश्वविद्यालयों के नीतिगत निर्णयों से जुड़ा विषय है। इसके लिए इच्छाशक्ति और प्राथमिकता की आवश्यकता है, न कि किसी असंभव प्रक्रिया की।

राजस्थान की जनता की एक महत्वपूर्ण और तार्किक मांग है कि प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों में राजस्थानी भाषा के स्थायी विभाग स्थापित किए जाएं। विशेष रूप से संभागीय स्तर पर स्थापित विश्वविद्यालयों में राजस्थानी भाषा के विभाग अनिवार्य रूप से होने चाहिए। यह समझना आवश्यक है कि विश्वविद्यालय केवल भवन, कक्षाओं और प्रशासनिक कार्यालयों का नाम नहीं है। विश्वविद्यालय ज्ञान के सृजन, शोध, विमर्श और समाज की बौद्धिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली संस्थाएं हैं। यदि राजस्थान के विश्वविद्यालय अपनी ही प्रदेश की भाषा, साहित्य और संस्कृति पर गंभीर अध्ययन एवं शोध की व्यवस्था नहीं कर पाते तो उनकी शैक्षिणक भूमिका पर भी प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

राजस्थानी भाषा के स्थायी विभाग स्थापित होने से अनेक सकारात्मक परिणाम सामने आ सकते हैं। सबसे पहले राजस्थानी भाषा में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर बढ़ेंगे। विद्यार्थियों को स्नातक, स्नातकोत्तर और शोध स्तर पर अध्ययन की व्यवस्थित सुविधा मिलेगी। भाषा और साहित्य के अध्येताओं को शोध के लिए संस्थागत आधार मिलेगा। लोक साहित्य, लोक संगीत, लोक नाट्यय, इतिहास, पुरातत्व, लोककला और सांस्कृतिक परंपराओं पर गंभीर शोध कार्य हो सकेंगे। राजस्थानी की विभिन्न बोलियों, शब्द संपदा और व्याकरण पर अकादमिक अध्ययन को प्रोत्साहन मिलेगा। स्थायी विभागों के माध्यम से राजस्थानी के लिए योग्य शिक्षकों और शोधकर्ताओं की नई पीढ़ी तैयार होगी। विश्वविद्यालयों में शोध पत्रिकाएं प्रकाशित होंगी, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठियां आयोजित होंगी तथा दूसरी भाषाओं के साथ अनुवाद और तुलनात्मक अध्ययन की संभावनाएं विकसित होंगी। इससे राजस्थानी साहित्य को व्यापक अकादमिक पहचान मिलेगी। यह कार्य केवल भाषा के विकास तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि राजस्थान की लोक संस्कृति को भी नई ऊर्जा प्रदान करेगा।

आज जब दुनिया तेजी से बदल रही है और कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डिजिटल तकनीक तथा वैश्विक संचार के नए माध्यम विकसित हो रहे हैं, तब मातृभाषाओं की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। डिजिटल दुनिया में वही भाषा आगे बढ़ेगी जिसके पास व्यवस्थित शब्दकोश, व्याकरण, साहित्यिक सामग्री, शोध सामग्री और शैक्षणिक संस्थानों का मजबूत आधार होगा। राजस्थानी को तकनीक से जोड़ने, डिजिटल शब्दकोश तैयार करने, लोक साहित्य का डिजिटलीकरण करने और नई पीढ़ी के लिए अध्ययन सामग्री विकसित करने की आवश्यकता है। विश्वविद्यालयों के स्थायी विभाग इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

यह भी विचारणीय है कि राजस्थान में नए विश्वविद्यालयों की स्थापना हो रही है। उच्च शिक्षा के विस्तार के लिए सरकार नए संस्थान खोल रही है, नए पाठ्यक्रम शुरू किए जा रहे हैं और विभिन्न विषयों में अध्ययन के अवसर विकसित किए जा रहे हैं। लेकिन इसी प्रक्रिया में राजस्थानी भाषा को प्राथमिकता क्यों नहीं मिल रही? क्या अपने प्रदेश की भाषा में अध्ययन और शोध करना आधुनिक शिक्षा के उद्देश्यों के विपरीत है? क्या राजस्थानी को विश्वविद्यालयों में स्थान देने से उच्च शिक्षा का स्तर कम हो जाएगा? निश्चित रूप से ऐसा नहीं है। बल्कि अपनी भाषा को ज्ञान और शोध की मुख्यधारा में शामिल करना किसी भी प्रदेश की शैक्षणिक परिपक्वता का प्रमाण है।

सरकार को यह भी समझना होगा कि राजस्थानी भाषा की मांग किसी एक संगठन, संस्था अथवा व्यक्ति की मांग नहीं है। यह प्रदेश के करोड़ों लोगों की भावनाओं और सांस्कृतिक अस्मिता से जुड़ा विषय है। साहित्यकार, शिक्षाविद, भाषाविद, विद्यार्थी और सामाजिक संगठन लंबे समय से इस दिशा में आवाज उठा रहे हैं। जब एक मांग लगातार उठ रही है तो सरकार का दायित्व बनता है कि वह उस पर संवाद करे, विशेषज्ञों की राय ले और समयबद्ध निर्णय की दिशा में आगे बढ़े।

लोकतंत्र में सरकार की आलोचना करना विरोध नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक अधिकार और जनभागीदारी का हिस्सा है। भाषा के प्रश्न पर सरकार से जवाब मांगना भी इसी अधिकार का उपयोग है। राजस्थानी के प्रति शासन की उदासीनता को लेकर समाज में जो बेचैनी है, उसे अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। क्या कोई नीतिगत समस्या है, वित्तीय कठिनाई है अथवा इस विषय को शासन की प्राथमिकताओं में शामिल ही नहीं किया गया है?

अब समय आ गया है कि सरकार केवल आश्वासनों और औपचारिक वक्तव्यों से आगे बढ़े। प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों में राजस्थानी भाषा के स्थायी विभाग स्थापित करने की नीति बनाई जाए।

आखिर यह सवाल बार-बार क्यों उठाना पड़ रहा है कि शासन राजस्थानी भाषा की बात क्यों नहीं सुन रहा? क्या तंत्र सोया हुआ है? क्या उसे राजस्थानी भाषा से परहेज है? या फिर प्रदेश की अपनी भाषा को शैक्षणिक पहचान देने की आवश्यकता ही महसूस नहीं की जा रही है?

सरकार की अपनी प्राथमिकताएं हो सकती हैं, लेकिन भाषा और संस्कृति को प्राथमिकताओं की सूची से बाहर नहीं रखा जा सकता। राजस्थानी को संवैधानिक मान्यता मिलने की प्रतीक्षा जारी रह सकती है, लेकिन उसके शैक्षणिक विकास को तब तक क्यों रोका जाए? विश्वविद्यालयों में स्थायी विभाग स्थापित करना एक ऐसा ठोस कदम है, जिसकी शुरुआत आज ही की जा सकती है।

राजस्थान की भाषा को राजस्थान के विश्वविद्यालयों में सम्मानजनक स्थान मिलना ही चाहिए। आखिर जिस भाषा ने इस प्रदेश की संस्कृति, लोकजीवन और पहचान को सदियों से जीवित रखा है, उसे अपने ही प्रदेश में शिक्षा और शोध के लिए संस्थागत स्थान पाने की प्रतीक्षा क्यों करनी पड़े? लोकतंत्र में लोक की आवाज सुनी जानी चाहिए और राजस्थानी की आवाज अब अनसुनी नहीं रहनी चाहिए।

**-राजेन्द्र जोशी,**
**शिक्षाविद-साहित्यकार,**
**